

आचार्य कुन्दकुन्द का मौलिक चिन्तन

डॉ. ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

व्याख्याता, प्राकृत एवं जैन शास्त्र
प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,
वैशाली-८४४१२८ (बिहार)...

आचार्य कुन्दकुन्द का जैन श्रमण परंपरा में महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों ही परंपराओं में उन्हें समान आदर प्राप्त है। दिगम्बर परंपरा में तो तीर्थंकर महावीर और गौतम गणधर के साथ उनका स्मरण किया जाता है। वे इतने यशस्वी थे कि उनके नाम पर कुन्दकुन्दान्वय ही प्रसिद्ध हो गया। आज भी दिगम्बर परंपरा के जैन श्रमण स्वयं को कुन्दकुन्दान्वयी कहने में गौरव का अनुभव करते हैं।

कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने ८४ पाहुडों - ग्रंथों की रचना की थी, किन्तु अभी तक उनके समयापाहुड, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय संग्रह, नियमसार, अष्टपाहुड, रयणसार, बारस अणुवेक्खा और प्राकृत भक्तियां ग्रन्थ ही खोजे जा सके हैं। उनके ग्रन्थों में केवलियों और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित विषय-वस्तु प्रस्तुत हुई है। ऐसा वे स्वयं ही नियमसार की मंगल गाथा में कहते हैं। उनके ग्रन्थों में अध्यात्म और दर्शन संबंधी अनेक मौलिक विचार प्रस्तुत हुए हैं। यहाँ उन पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है --

नियम --

'नियमसार' ग्रंथ में नियमसार नाम की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि जो नियम से करने योग्य कार्य है, वह नियम है। वह नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। इनसे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का निषेध करने के लिए 'सार' पद कहा गया है। यह कथन करने वाली मूल गाथा इस प्रकार है--

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।

विवरीय परिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं॥ नियम-३

कुन्दकुन्द ने यहाँ नियम शब्द से सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग का ग्रहण किया है। ग्रन्थकार का उद्देश्य भी नियमरूप मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करना है, जिसका फल निर्वाण है। उक्त मार्ग का कथन करने में निश्चयनय

और व्यवहारनय को माध्यम बनाया गया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को व्यवहारनय से नियत अर्थात् मोक्षमार्ग कहा है। निश्चयनय से नियम को परिभाषित करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं--

सुहअसुहवयणरयणं रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायादि तस्सदुणियमं हवे णियमा॥ नियम-१२०

अर्थात् शुभ और अशुभ वचनों की रचना तथा रागादिभावों का निवारण करके आत्मा का ध्यान करना, नियम से नियम है अर्थात् निश्चयनय से नियम है।

उक्त गाथा की संस्कृत टीका में पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी कहा है--

वचनरचनां त्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणां,
सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम्।
परमयामिनस्तस्य ज्ञानात्मनो नियमादयं,
भवति नियमः शुद्धो मुक्त्यंगनासुखकारणम्।

नियम-टीका, श्लोक-१९१

अर्थात् जो भव्य जीव शुभ-अशुभरूप वचनरचना को छोड़कर नित्य ही स्फुटरूप से सहज परमात्मा का सम्यक् प्रकार से अनुभव करता है, उस ज्ञानस्वरूप परम संयमी के नियम से यह नियम होता है, जो मुक्तिसुंदरी (मोक्ष) के सुख का कारण है।

अर्धमागधी एवं शौसेनी आगमों, प्राकृत के अन्य पारंपरिक ग्रन्थों तथा संस्कृत ग्रन्थों में कहीं भी रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के लिए नियम शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने नियम शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग किया है।

कुन्दकुन्द ने दंसणपाहुड में कहा है कि ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप इन चारों का समागम होने पर मोक्ष होता है। सम्यक्त्व सहित इन चारों के समागम से ही जीव सिद्ध हुए हैं, इसमें संदेह नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द के काल तक चतुर्विध

मोक्षमार्ग की परंपरा मौजूद थी। उनके समय में त्रिविध मोक्षमार्ग का विचार भी होने लगा था। संभवतः इसीलिए उन्होंने चतुर्विध मोक्षमार्ग का तो केवल उल्लेख ही किया, किन्तु अपने ग्रन्थों में त्रिविध मोक्षमार्ग का विस्तार से कथन किया।

निश्चय और व्यवहारनय --

आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक दृष्टि से प्रधान कथन किया और इसके लिए नय को माध्यम बनाया। उनके ग्रन्थों में नय के निश्चय और व्यवहार भेद पाये जाते हैं। इनका उल्लेख भगवतीसूत्र में भी मिलता है। कुन्दकुन्द से पूर्व किसी भी ग्रंथकार ने नयों को निश्चय और व्यवहार नाम नहीं दिया। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में निश्चयनय द्रव्यार्थिकनय के समान तथा व्यवहारनय पर्यायार्थिक नय के समान है। वे निश्चयनय को परमार्थ शुद्ध और भूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनय को अभूतार्थ और अशुद्ध कहते हैं। कुन्दकुन्द के टीकाकारों एवं उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने उक्त नयों के अनेक भेद-प्रभेद किए हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मस्वरूप का विवेचन किया है। उनके अनुसार गुण-पर्यायों से रहित आत्मा के त्रैकालिक शुद्धस्वभाव का कथन करने वाला निश्चयनय और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की विभिन्न परिणतियों का कथन करने वाला व्यवहारनय है।

नियमसार में जीवादि बाह्य तत्त्वों को हेय और अपने आत्मा को उपादेय बताया गया है। निश्चयनय से जीव का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जीव के स्वभाव स्थान, मानापमानभाव स्थान, हर्षभाव स्थान, अहर्षभाव स्थान, स्थिति बंध स्थान, प्रकृतिबंध स्थान, प्रदेशबंध स्थान, अनुभागबंध स्थान, उदयस्थान, क्षायिकभाव स्थान, क्षयोपशमभाव स्थान, औदयिकभाव स्थान, उपशमस्वभाव स्थान, चतुर्गति में परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान नहीं है। जीव, (आत्मा) निर्दण्ड, निर्द्वन्द्व, निर्मम, निष्कल, निरालम्ब, नीराग, निर्दोष, निर्मूढ, निर्भय, निर्ग्रथ, निःशल्य, समस्त दोषों से रहित निष्काम, निष्क्रोध, निर्मान और निर्मद है। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि पर्यायें सभी संस्थान और संहनन, ये सब जीव में नहीं हैं^१। वह जीव अरस,

अरूप, अगंध, अव्यक्त, चेतनागुणयुक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण (लिंग हेतु से नहीं ग्रहण करने योग्य) और अनिर्दिष्ट संस्थान (जिसका कोई संस्थान-आकार नहीं कहा जा सकता) है, ऐसा जानो^२। यह सब निश्चयनय का कथन है। व्यवहारनय से उपर्युक्त सभी भाव जीव के कहे जाते हैं^३। अर्थात् व्यवहारनय से जीव का स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार का परिणमन होता है।

तत्त्वार्थ--

नियमसार में विविध गुणों और पर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा गया है। मूल गाथा इस प्रकार है--

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।

नियम-९

इस गाथा में इन्हें 'द्रव्य' नाम नहीं दिया गया है, किन्तु बाद की गाथाओं में जीवादीदव्वाणं और एदे छदव्वाणि कहकर इनका द्रव्य नाम से उल्लेख हुआ है^४। यहां तत्त्वार्थ या द्रव्य को परिभाषित नहीं किया गया है। छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पाँच अस्तिकाय कहे गए हैं, क्योंकि ये बहुप्रदेशी और कायवान् है, इसलिए अस्तिकाय हैं^५। काल द्रव्य कायवान् नहीं हैं, क्योंकि वह एक प्रदेशी है, इसलिए उसे अस्तिकाय स्वीकार नहीं किया गया।

प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में छह द्रव्यों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है, वहाँ द्रव्य का स्वरूप भी कहा गया है। प्रवचनसार में 'अत्थो खलु दव्वमओ' (२/१) अर्थात् अर्थ (पदार्थ) द्रव्यमय है, ऐसा कहा है। 'पंचास्तिकायसंग्रह' कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और षड्द्रव्य प्रतिपादक स्वतंत्र ग्रन्थ है। उसकी एक सौ दो गाथाओं में अस्तिकायों और द्रव्यों का कथन करने के उपरान्त वे कहते हैं कि इस प्रकार जो प्रवचन के सारभूत पंचास्तिकायसंग्रह को जानकर राग-द्वेष को छोड़ता है, वह संसार के दुःखों से छुटकारा पा लेता है^६। आगे 'मुणिऊण एतदट्ठं' (गाथा १०४) में अस्तिकायों और द्रव्यों के लिए अट्ठं शब्द का प्रयोग किया गया है। पुनः गाथा १६० में 'धम्मादी सद्वहणं सम्मत्तं कहकर धर्मादि द्रव्यों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

पंचास्तिकाय और षड्रव्य लोकव्यवस्था के आधार हैं। विविध गुणों और पर्यायों सहित जिनमें अस्ति स्वभाव है, वे अस्तिकाय कहलाते हैं। वे ही अस्तिकाय त्रैकालिक भावरूप में परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं और परिवर्तन लिंग से युक्त काल सहित द्रव्यभाव को प्राप्त होते हैं^५। इन्हीं से त्रैलोक्य निष्पन्न है। नियमसार में तत्त्वार्थ के रूप में द्रव्यों का व्याख्यान इस तथ्य की ओर संकेत है कि प्राचीन परंपरा में पंचास्तिकाय और षड्रव्य को तत्त्वार्थ कहा जाता है। इसलिए नियमसार में इन्हीं का श्रद्धान सम्यक्त्व कहा गया है। पंचास्तिकाय संग्रह से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

तत्त्व या पदार्थ बंध-मोक्ष के आधार हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक इन तत्त्वों, पदार्थों की मान्यता विकसित हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने समयसार में विस्तृत रूप से तत्त्वों या पदार्थों का व्याख्यान किया। पंचास्तिकाय संग्रह के उत्तरार्द्ध में भी नौ पदार्थों का कथन किया है। इससे यह सिद्ध है कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में प्राचीन और समकालीन दोनों ही परंपराओं को अपनाया है।

आत्मद्रव्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मस्वरूप को व्यक्त करते हुए आत्मा के परमात्मा, अंतरात्मा और बहिरात्मा ये तीन भेद किए हैं^१। नियमसार में सम्यग्दर्शन के प्रसंग में कहा गया है कि क्षुधा, तृषा आदि समस्त दोषों से रहित और केवल ज्ञान, केवल दर्शन, केवल वीर्य और केवल सुखरूप अनन्त चतुष्टय से युक्त आत्मा ही परमात्मा कहलाता है, इससे विपरीत परमात्मा नहीं हो सकता^{१०}। अरिहंत और सिद्ध परमेष्ठी परमात्मा कहलाते हैं। चार घातिया कर्मों से रहित, केवल ज्ञानादि विशेष गुणों और चौतीस अतिशयों से युक्त, अरिहंत होते हैं तथा चार घातिया और चार अघातिया ऐसे आठ कर्मों का नाश करने के कारण आठ महागुणों से युक्त परम, नित्य, लोकाग्र अर्थात् सिद्धशिला पर स्थित रहने वाले, सिद्धपरमात्मा है।

जो श्रमण आवश्यकों से युक्त, अंतः और बाह्य जल्पों से रहित, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में संलग्न होता है, वह अंतरात्मा कहा गया है। आवश्यकों से हीन, अंततः और बाह्य जल्पों में प्रवृत्त तथा ध्यान से रहित श्रमण, बहिरात्मा है^{१२}। मोक्षपाहुड में

भी इनका स्वरूप कहा गया है। इनमें से बहिरात्मा को हेय और अंतरात्मा एवं परमात्मा को उपादेय बताया गया है। उत्तरवर्ती कुमार कार्तिकेय पूज्यपाद, योगीन्दु प्रभृति अनेक आचार्यों ने कुन्दकुन्द का अनुकरण किया है।

स्वभाव-विभाव पर्याय --

द्रव्यों का परिणमन पर्याय रूप में होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम पर्याय के स्वभाव और विभावरूप परिणमन का कथन किया है, जिसे पश्चात्कालीन अधिकांश दार्शनिकों ने अपनाया है। कुन्दकुन्द कहते हैं कि कर्मजन्य उपाधियों से रहित जीव की जो निरपेक्ष शुद्ध पर्याय है, वह स्वभाव पर्याय है और कर्मफल के कारण जीव की जो नर, नारक, तिर्यच और देव रूप पर्याय होती है, वह विभाव पर्याय है^{१३}। अन्य निरपेक्ष परमाणु पुद्गल की स्वभाव पर्याय है और पुद्गल का स्कन्ध रूप परिणमन विभाव पर्याय है^{१४}। जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष धर्मादि चार द्रव्यों की केवल स्वभाव पर्याय होती है, क्योंकि उनका विभाव परिणमन नहीं होता है^{१५}।

पुद्गल परमाणु

पुद्गल द्रव्य के प्रसंग में कुन्दकुन्द ने परमाणु का स्वरूप इस प्रकार कहा है--

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णोव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणु तं विआणाहि॥

नियमसार-२६

अर्थात् स्वयं परमाणु ही जिसका आदि, मध्य और अंत है, जो इंद्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है तथा जो अविभागी द्रव्य है। उसे परमाणु जानो।

उन्होंने परमाणु के दो भेद किए हैं--१. कारण परमाणु और २. कार्य परमाणु^{१६}। जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों धातुओं का कारण है, वह कारण परमाणु है। इन धातुओं का निर्माण अनेक परमाणुओं के मेल से होता है, इसलिए ये स्कन्धरूप हैं। इन स्कन्धों के निर्माण में जो परमाणु कारण होता है, उसे कारण परमाणु कहा गया है। स्निग्ध और रूक्ष गुणों के कारण परमाणुओं का बन्ध होता है, उनके इस गुण का हास होने के कारण स्कन्धों में विघटन होता है। इस विघटन क्रिया से

निष्पन्न परमाणु कार्य परमाणु है। निश्चयनय से परमाणु को ही पुद्गल द्रव्य कहा जाता है तथा परमाणु ही पुद्गल द्रव्य की स्वभाव पर्याय है^{१७}। पंचास्तिकाय में स्कन्धों के अंतिम विभाग को परमाणु कहा गया है। यह नित्य, अशुद्ध, एक, अविभागी, मूर्त स्कन्ध से उत्पन्न और मूर्तस्कन्ध का कारण होता है^{१८}। परमाणु का इतना सूक्ष्म और स्पष्ट विवेचन कुन्दकुन्द की विशेषता है, जिसे बाद के ग्रन्थकारों ने भी स्वीकार किया है।

उपयोग --

जीव उपयोगमय कहा गया है। उपयोग ज्ञान और दर्शन के भेद से दो प्रकार का होता है। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञानोपयोग के स्वभाव और विभाव भेद किए हैं। इंद्रियों की सहायता से रहित, असहाय केवल ज्ञान स्वभावज्ञान है। विभाव ज्ञान भी संज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के भेद से दो प्रकार का होता है। संज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्यायज्ञान ये चार भेद हैं। अज्ञान कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान या विभंगज्ञान के भेद से तीन-तीन प्रकार का बताया गया है^{१९}।

इसी प्रकार दर्शनोपयोग के भी स्वभाव और विभाव दो भेद हैं। इन्द्रिय निरपेक्ष, असहाय केवलदर्शन को स्वभाव दर्शन तथा चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन को विभाव दर्शन कहा गया है^{२०}।

चारित्रिक विकास के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ये दो भेद करते हैं। प्रवचनसार में कहा गया है कि जीवादि पदार्थों तथा उनका कथन करने वाले शास्त्र का सम्यक् ज्ञान, संयम एवं तप से युक्त आचरण, विगत राग और सुख-दुःख में समता भाव रखना, शुद्धोपयोग है। ऐसा आचरण करने वाला श्रमण शुद्धोपयोगी कहा जाता है। शुद्धोपयोगी जीव चार घातिया कर्मों को नष्ट करके केवली और स्वयंभू हो जाता है और निर्वाण सुख प्राप्त करता है^{२१}। अशुद्धोपयोग भी दो प्रकार का है--१. शुभोपयोग और २. अशुभोपयोग। जीव का शुभरूप परिणम शुभोपयोग तथा अशुभरूप परिणमन अशुभोपयोग कहलाता है^{२२}। धर्म का आचरण करता हुआ शुभोपयोग से युक्त जीव स्वर्गसुख प्राप्त करता है^{२३}। अशुभोपयोग रूप परिणमन करने वाला जीव खोटा मनुष्य और नारकी होकर हजारों दुःखों को भोगता हुआ अनंत संसार में घूमता रहता है^{२४}।

व्यवहारनय से अशुभोपयोग को हेय और शुभोपयोग को उपादेय कहा गया है, क्योंकि शुभोपयोग आत्मा के विकासोन्मुख होने की अवस्था है। निश्चयनय से संसार का हेतु होने के कारण शुभोपयोग भी हेय है, केवल शुद्धोपयोग ही यहाँ उपादेय है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के ज्ञान और दर्शन द्विविध उपयोग का कथन किया। पुनः उसके विकास क्रम का सम्यग्ज्ञान कराने के लिए उन्होंने अशुभ, शुभ और शुद्धरूप त्रिविध उपयोग का भी प्रतिपादन किया। त्रिविध उपयोग कथन का श्रेय भी कुन्दकुन्द को प्राप्त होता है। पश्चात्कालीन आचार्यों ने उनका अनुकरण किया है।

षडावश्यक -

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में षडावश्यकों का विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने उनका क्रम इस प्रकार रखा है-१. प्रतिक्रमण, २. प्रत्याख्यान, ३. आलोचना, ४. प्रायश्चित्त, ५. परमसमाधि और ६. परमभक्ति। नियमसार के टीकाकार ने उक्त नामों से स्वतंत्र अधिकार बनाए हैं।

प्रतिक्रमण में अतीतकालीन दोषों का निराकरण होता है। प्रत्याख्यान में अनागत दोषों का विचार किया जाता है। वर्तमान दोषों की आलोचना की जाती है। इन तीनों में दोषों का विचार होता है। उसके बाद प्रायश्चित्त लिया जाता है, जिसमें तपश्चरण प्रमुख है। घोर तपश्चरण में ही कायोत्सर्ग समाहित है। इसके बाद परमसमाधि और परमभक्ति होती है। इनमें सामायिक और ध्यान ही प्रमुख क्रियाएं हैं^{२५}।

आवश्यकों का विवरण देने के बाद कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो अन्य के वश नहीं होता है, उसके कार्य को आवश्यक कहते हैं। यह कर्म विनाशक और निवृत्ति का मार्ग है। यह आवश्यक की निरुक्ति है। जो अन्य के वश में नहीं है, वह अवश है, अवश का कार्य आवश्यक जानना चाहिए। यह निरवयव युक्ति और उपाय है। जो श्रमण अशुभ भाव, शुभ भाव और द्रव्यगुणपर्याय में चित्त को लगाता है, वह अन्यवश श्रमण है, उसके आवश्यक कार्य नहीं होता। जो श्रमण परभाव को छोड़कर निर्मलस्वभावी आत्मा का ध्यान करता है, वह आत्मवश होता है, उसी के आवश्यक कार्य होता है। आगे कहा गया है कि यदि आवश्यक करना चाहते हो तो आत्मस्वभाव में

अपने भावों को स्थिर करो, उससे जीव का श्रामण्य गुण पूर्ण होता है^{२६}। सभी पुराणपुरुष इस प्रकार आवश्यक कार्य करके अप्रमत्त आदि स्थानों को प्राप्त करके केवली हुए हैं^{२७}। आवश्यक श्रमण और श्रावक दोनों के लिए करणीय है।

मूलाचार तथा आवश्यकसूत्र में सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कार्योत्सर्ग ये छह आवश्यकों के नाम बताए गए हैं और इनका क्रम भी यही रखा गया है, जो कुन्दकुन्द से भिन्न है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द-कथित आवश्यकों की परंपरा प्राचीन है और वह उनके समय तक विद्यमान थी। बाद में अन्य ग्रन्थकारों ने उसे परिमार्जित और संशोधित किया। परंपरा इस समय प्रचलित है।

केवली (सर्वज्ञ)

आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन दर्शन की सर्वज्ञता विषयक अवधारणा को निश्चय और व्यवहार नय की दृष्टि से स्पष्ट करते हुए कहा है कि--

जाणदि पस्सदि सव्वं व्यवहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

नियमसार-१५९

अर्थात् केवली भगवान (सर्वज्ञ) व्यवहारनय से सब कुछ जानते और देखते हैं, किन्तु निश्चय से वह केवल अपने आत्मा को ही जानते और देखते हैं।

सर्वज्ञता विषयक विचार कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सर्वज्ञ तीनों लोकों और तीनों कालों के समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायों को एक साथ देखता और जानता है। षट्खण्डागम सूत्र में भी ऐसा ही कहा गया है। इसलिए निश्चयनय का यह कथन कि वास्तव में वह अपने को ही जानता है, विरोधी प्रतीत होता है, किन्तु कुन्दकुन्द के ज्ञान-ज्ञेय विषयक अवलोकन से इसका समाधान प्राप्त हो जाता है। प्रवचनसार में केवलज्ञान का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। निश्चय और व्यवहारनय से सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन का कथन कुन्दकुन्द से पूर्व उपलब्ध नहीं है।

केवली के ज्ञान और दर्शन युगपत् होते हैं। इसे कुन्दकुन्द ने निम्न प्रकार कहा है --

जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासतावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।।

नियमसार--१६०

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के ताप और प्रकाश एक साथ प्रकट होते हैं। उसी प्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं। कुन्दकुन्द के इसी उदाहरण को बाद के दार्शनिकों ने अपनाया है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि छद्मस्थ संसारी जीवों के दर्शन पूर्वक ही ज्ञान होता है, क्योंकि उनके दो उपयोग एक साथ नहीं होते^{२८}।

आत्मा, ज्ञान और दर्शन का स्वपरप्रकाशकत्व

नियमसार में आत्मा के स्वपर-प्रकाशक स्वरूप का स्पष्ट विवेचन हुआ है। इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि यदि कोई ज्ञान को परप्रकाशक, दर्शन को आत्मप्रकाशक और आत्मा को स्वपरप्रकाशक मानता है तो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक है तो ज्ञान से दर्शन भिन्न हुआ, इसलिए दर्शन परद्रव्यगत नहीं है। आत्मा परप्रकाशक है तो आत्मा से दर्शन भिन्न होगा, इसलिए दर्शन परद्रव्यगत नहीं है। व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है, इसलिए दर्शन भी परप्रकाशक है तथा व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है, इसलिए दर्शन भी परप्रकाशक है। निश्चयनय से ज्ञान आत्म (स्व) प्रकाशक है, इसलिए दर्शन भी आत्म (स्व) प्रकाशक है तथा निश्चयनय से आत्मा स्वप्रकाशक है, इसलिए दर्शन भी स्वप्रकाशक है^{२९}।

आगे और भी कहते हैं कि केवली भगवान आत्मस्वरूप को देखते हैं, लोकालोक को नहीं, यदि कोई ऐसा कहता है तो उसका क्या दोष है? और यदि कोई ऐसा कहे कि केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं, अपने को नहीं जानते हैं, तो भी कोई दोष नहीं है। ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिए आत्मा अपने आत्मस्वरूप को जानता है यदि ज्ञान अपने आत्मा को नहीं जानता है तो वह आत्मा से अलग हो जाएगा। आत्मा को ज्ञान जानो, ज्ञान को आत्मा जानो, इसमें संदेह नहीं है। इसलिए ज्ञान तथा दर्शन स्वपर-प्रकाशक हैं^{३०}। कुन्दकुन्द ऐसे पहले आचार्य हैं, जिन्होंने परंपरा से प्राप्त आत्मा, ज्ञान और दर्शन के स्वपर-प्रकाशकत्व का स्पष्ट विवरण दिया है। उत्तरकालीन सभी दार्शनिकों के लिए कुन्दकुन्द का उक्त विचार अनुकरणीय रहा है।

सप्तभंगी -

जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु को अनन्त धर्मात्मक मानता है, इसलिए इसके वस्तुस्वरूप-प्रतिपादक सिद्धान्त को अनेकान्त

या अनेकान्तवाद कहते हैं। वस्तु के अनन्तधर्मों का पृथक-पृथक एवं सापेक्ष निरूपण स्याद्वाद के द्वारा होता है। स्याद्वाद के सापेक्ष कथन के लिए सप्तभंगी को अपनाया गया है, क्योंकि जिज्ञासा की अपेक्षा से एक वस्तु में सात प्रश्न ही संभव हैं। सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने ही सात भंगों का उल्लेख किया है--

सिय अत्थि णत्थि उह्यं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि।। पंचास्तिकाय-१४

विवक्षावश द्रव्य में सात भंग ही संभव हैं। १. स्यादस्ति-किसी प्रकार है। २. स्यान्नास्ति-किसी प्रकार नहीं है। ३. स्यादुभयम्-किसी प्रकार अस्तिनास्ति दोनों रूप है। ४. स्यादवक्तव्यम्-किसी प्रकार अवक्तव्य है। ५. स्यादस्ति अवक्तव्यम्-किसी प्रकार अस्तिस्वरूप होकर अवक्तव्य है। ६. स्यान्नास्ति अवक्तव्यम् - किसी प्रकार नास्तिरूप होकर अवक्तव्य है। ७. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यम् - किसी प्रकार अस्ति नास्ति दोनों रूप होकर अवक्तव्य है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जैन दर्शन की प्राचीन पारंपरिक सामग्री प्रचुरता में उपलब्ध है। वहाँ तत्त्वार्थ एवं आवश्यक जैसे सिद्धान्तों की प्राचीन परंपरा का स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है। जैन दर्शन के अनेक विचार सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में व्यक्त किए हैं, इसलिए उनके चिंतन की मौलिकता स्वयं प्रमाणित है। परंपरा के अनेक मौलिक विषयों को सुरक्षित रखने का श्रेय उन्हें प्राप्त है। उक्त तथ्यों पर यहाँ संक्षेप में ही विचार किया जा सका है। उनकी तुलनात्मक समीक्षा अपेक्षित है, जिसे यथावसर प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहेगा।

सन्दर्भ

१. दंसणपाहुड, गाथा-३०, ३२
२. नियमसार, गाथा-३८-४५
३. वही, ४६ समयसार-४९, भावपाहुड-६४ आदि।
४. वही, ४९

५. वही, गाथा, ३३-३४
६. वही, गाथा-३४
७. पंचास्तिकाय, गाथा-१०३
८. वही, गाथा--५-६
९. मोक्खपाहुड, गाथा--४
१०. नियमसार, गाथा--६-७
११. वही, गाथा -- ७१-७२
१२. वही, गाथा -- १४९-१५१
१३. वही, गाथा - १५
१४. वही, गाथा २८
१५. वही, गाथा-३३
१६. वही, गाथा-२५
१७. वही, गाथा-२८-२९
१८. सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो त वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असदो एक्को अविभागी मुत्तिभवो।। पंचास्तिकाय,
गाथा-७७
१९. नियमसार, गाथा १०-१२
२०. वही, गाथा -- १३-१४
२१. प्रवचनसार, १/१२, १४-१६
२२. वही, गाथा १/९
२३. वही, गाथा १/११
२४. वही, गाथा १/१२
२५. नियमसार, गाथा ८३-१४०,
२६. वही, गाथा - १४१-१४७,
२७. वही, गाथा-१५८
२८. द्रव्यसंग्रह, गाथा-४४
२९. नियमसार, गाथा - १६१-१६५
३०. वही, गाथा - १६६-१७१